भारत का बिगड़ता रूप

१९८२

चौधरी चरण सिंह

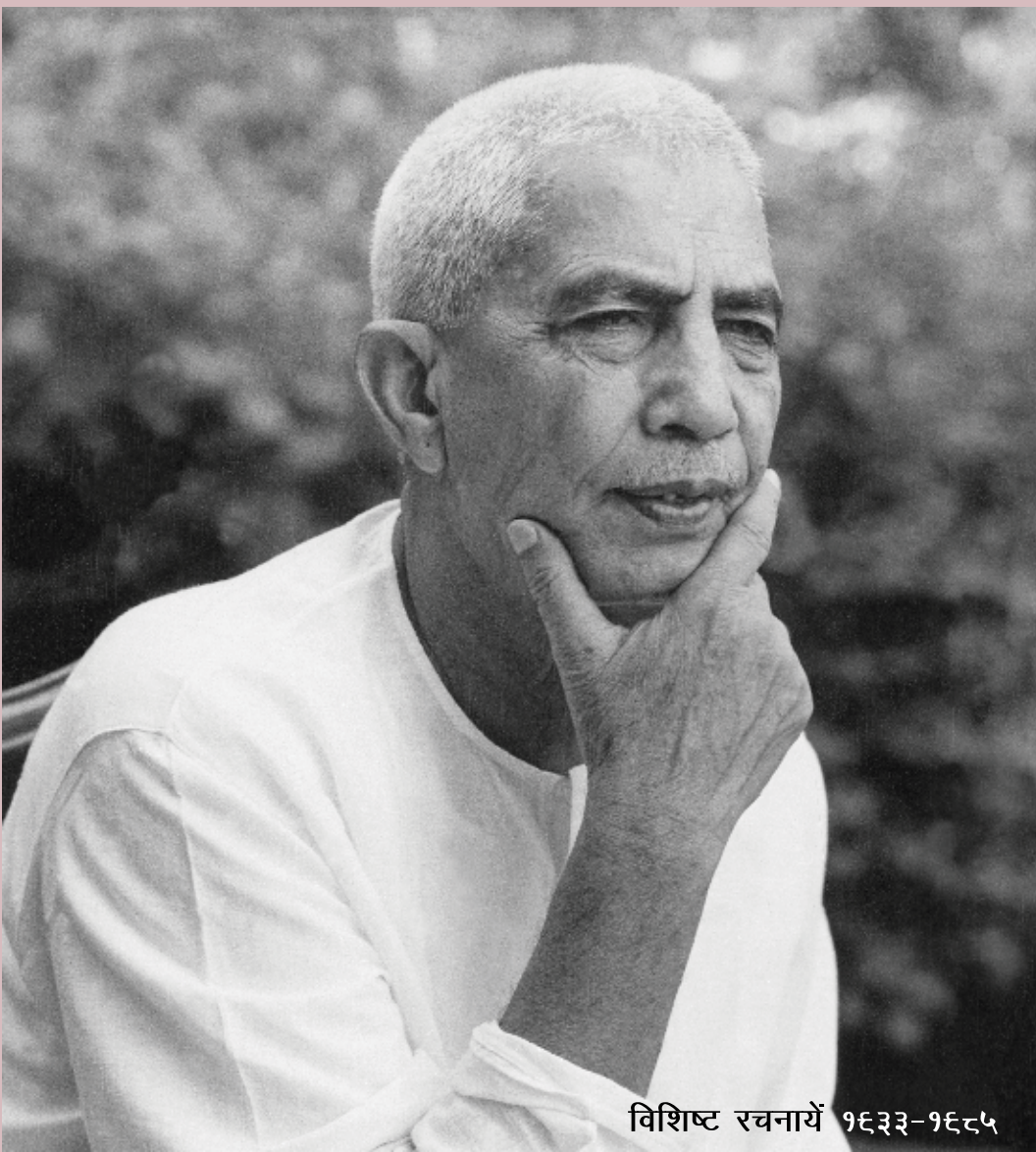

विशिष्ट रचनायें १९३३-१९८५

२६ जनवरी २०२२
चरण सिंह अभिलेखागार द्वारा प्रकाशित
www.charansingh.org
info@charansingh.org

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन को केवल पूर्व अनुमति के साथ
पुनः प्रस्तुत, वितरित या प्रसारित किया जा सकता है।
अनुमति के लिए कृपया लिखें info@charansingh.org

अक्षर तथा आवरण संयोजन राम दास लाल
सौरभ प्रिंटर्स प्राइवेट लिमिटेड, ग्रेटर नोएडा, भारत द्वारा मुद्रित।

चरण सिंह के पिता मीर सिंह तथा माता नेत्र कौर, १९५०

चरण सिंह का जन्म २३ दिसंबर १९०२ को "एक साधारण किसान के यहां छप्पर छवाये मिट्टी की दीवारों से बने घर में हुआ था, जहां आंगन में एक कुंआ था, जिसका पानी पीने और सिंचाई के काम आता था।"[1] संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) के मेरठ जिले के नूरपुर गांव में एक पट्टेदार गरीब किसान की कच्ची मढ़ैया में पैदा हुआ यह शिशु आज़ाद भारत में देहात की बुलंद आवाज बना।

---

* चरण सिंह के अपने शब्दों में

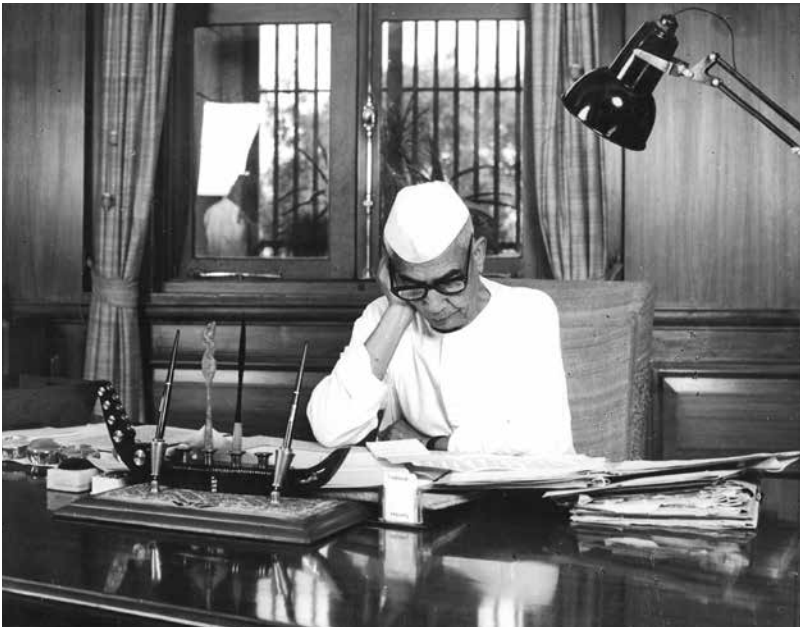

चौधरी चरण सिंह
भारत के प्रधान मंत्री। दिल्लीं, १९७९

ग्रामीण भारत के जैविक बुद्धिजीवी

१
भारत का बिगड़ता रूप

देश की समस्याओं, विशेषकर आर्थिक स्थिति, को लेकर चौधरी चरणसिंह सदैव चिंतनशील रहते थे। उन्होंने १९८२ में यह लेख लिखा था, जिसमें भारत में व्याप्त गरीबी और बेरोज़गारी की समस्याओं का विश्लेषण किया गया था, साथ ही समस्या के सभी पहलुओं पर विचार करते हुए एक सुधार–सिद्धान्त भी उन्होंने प्रस्तुत किया था। लेख में चौधरी साहब ने यह धारणा स्थापित की है कि "भारत की खुशहाली का रास्ता गांव और खेतों से होकर गुजरता है"।

आज का भारत मेरी पीढ़ी के स्वप्नों का भारत नहीं है। आज से ३५ वर्ष पूर्व राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के साथ जो आशाएं जगी थीं, अब वे पूरी तरह से समाप्त हो गई हैं। कुछ विदेशी विचारकों की यह उम्मीद भी समाप्त हो गई है कि लम्बे समय तक कष्ट सहने वाला तथा 'संस्कृति का असीम भण्डार एवम् प्राचीन बुद्धिमत्ता का यह देश', जिसने गुलामी के दिनों में भी गांधी को पैदा किया, वह साम्यवाद, पूंजीवाद तथा उपनिवेशवाद से त्रस्त विश्व को एक नया रास्ता दिखायेगा।

पतन की ओर बढ़ते हुए भारत में, राष्ट्रीय तथा व्यक्तिगत चरित्र के साथ सभी अन्य क्षेत्रों में गिरावट आई है। इस पतन के कारण और निदान लिखने के लिए एक अलग किताब लिखनी पड़ेगी। यहां सिर्फ अपने इस दुर्भाग्य के आर्थिक पहलू की बात की जा रही है।

आज भारत दुनिया का लगभग सबसे गरीब देश है। दुनिया के १२५ गरीब देशों में भारत का स्थान १२३वां है, देश के करीब दो तिहाई लोग हर रात आधे पेट खाकर सोते हैं। करोड़ों लोग ऐसे हैं, जो अधनंगे घूमते हैं और देश में, खासकर बिहार तथा उत्तर प्रदेश में, सर्दियों में लाखों लोग पूरे कपड़े न होने के चलते ठंड़ से मर जाते हैं। देश में पांच करोड़ से ज़्यादा परिवार ऐसे हैं, जो एक कमरे में या झोंपड़ी में रहते हैं। करीब पांच साल पहले इकट्ठे किये गये आंकड़ों के अनुसार बम्बई तथा कलकत्ता

में ३३ प्रतिशत लोग झोंपड़–पट्टियों में या फुटपाथ पर रहते थे। दिल्ली में, जहां पर प्रति व्यक्ति औसत आय सभी शहरों से ज़्यादा है, वहां भी इस तरह के लोग कुल आबादी का २४ प्रतिशत और कानपुर में सबसे ज़्यादा, यानी ३७ प्रतिशत थे।

पढ़े–लिखे और अनपढ़ ग्रामीण तथा शहरी बेरोज़गारों और अर्ध–बेरोज़गारों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। मार्च १९७७ के अन्त में जिला मुख्यालयों के रोज़गार–कार्यालयों में दर्ज बेरोज़गारों की संख्या १.०२ करोड़ थी। पांच साल में ही यह संख्या बढ़ कर १.८० करोड़ हो गई है। ऐसे डॉक्टर (पी–एच० डी०) भी मिल जायेंगे, जो चपरासी की नौकरी करने के लिए खुशी से तैयार हो जाएंगे और ऐसे एम० ए० और एम० एस–सी० भी आसानी से मिल जायेंगे, जो सात रुपये प्रति दिन मजदूरी कर रहे हैं।

गांवों में १९५३ में, कृषि–मजदूरों तथा भू–स्वामियों (परिवार के अवैतनिक सहायकों सहित) का अनुपात करीब १३:५७ था। १९६१ में सिर्फ भू–स्वामियों और कृषि–मजदूरों के बीच यह अनुपात १७ : ५१, और १९७१ में ३६.३ : ४३ हो गया।

सीमांत और सीमांत से भी नीचे के किसान (२.५ एकड़ तथा १.२५ एकड़ या ४ और २ बीघा ज़मीन वाले किसान) सातवें दशक में भी अपनी ज़मीनों से बेदखल किये जाते रहे हैं और परिणाम यह हुआ कि १९८१ में यह अनुपात करीब ३० और ४० हो गया। ज़मीन से बेदखल किये गये ये ही करोड़ों बेरोज़गार तथा अर्ध–बेरोज़गार लोग नौकरी पाने की झूठी आशा में महानगरों की ओर भागते हैं।

अर्ध–बेरोज़गार तथा बेरोज़गार किसानों और पहले से ही बेरोज़गार खेतिहर मजदूरों की, पहले हमारे विदेशी मालिकों और फिर हमारे अपने राजनेताओं ने भारतीय ग्रामीण कलाओं और हस्त कलाओं का जो हाल किया, उसकी वजह से हालत और भी खराब हो गई है। १९३१ की जनगणना से स्पष्ट हो जाता है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा अंग्रेज सरकार की नीतियों की वजह से मजबूर होकर हमारे देश के करीब तीन चौथाई शिल्पकारों तथा दस्तकारों ने सन् १९३० तक खेती (५०%) और अन्य धंधों (२४ प्रतिशत) को अपना लिया था। सिर्फ एक चौथाई (२६%) अपने बाप–दादाओं के धंधों में लगे रहे। आजादी मिलने के बाद पं० नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेसी नेताओं ने महात्मा गांधी की शिक्षाओं के विरूद्ध जाकर एक ऐसी अर्थनीति अपनायी, जिसमें सबसे ज़्यादा महत्त्व भारी उद्योगों को दिया गया और जिसके चलते ऐसे बचे–खुचे उद्योग भी खत्म हो गये, जो कि १९४७ तक, विदेशी शासन के बावजूद, जीवित बचे

थे। यह बात १९५५ में मई तथा नवम्बर के दौरान किये सेम्पल सर्वे (नौवां चक्र) से साफ हो जाती है। इसके अनुसार गृह–उद्योगों में लगे कारीगरों की संख्या १.०२ करोड़ थी। १५ साल बाद यह संख्या बढ़ने के बजाय ३८ प्रतिशत गिर कर सिर्फ ६३.५ लाख रह गई (१९७१ की जनगणना के अनुसार)। विचारधारा के अलावा इस हालत के लिए यह बात भी जिम्मेदार है कि देश के करीब–करीब सभी नेता अपने चुनाव–चंदों और गद्दी पर बने रहने के लिए भी एकाधिकारवादियों तथा बड़े उद्योग घरानों के मोहताज हैं।

जहां तक आर्थिक विषमता का सवाल है, नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लाइड इकॉनामिक रिसर्च की एक रिपोर्ट के अनुसार १९७६ में १.५५ करोड़ परिवारों, जो कि ग्रामीण जनता का सबसे गरीब–२० प्रतिशत है, की कुल पूंजी १०७४ करोड़ रूपये थी, जो कि करीब ७०० रुपया प्रति परिवार पड़ती है, जबकि, १९७७ में टाटा तथा बिरला दोनों उद्योग घरानों की अलग–अलग सम्पत्ति का मूल्य १०७० करोड़ रुपये था। तीन साल पहले हमारे देश की प्रति व्यक्ति आय १२५० रुपये सालाना थी। देश में लाखों लोग ऐसे हैं, जो यह तक नहीं जानते कि वे अपनी सम्पत्ति का क्या उपयोग करें? इनमें से ज़्यादातर लोगों ने काले धंधों से कमाई की है और यही वजह है कि वे पांच सितारा होटलों में ढाई से तीन हजार रुपये प्रति दिन तक के किराये पर कमरे ले सकते हैं।

इस असमान आर्थिक स्थिति की वास्तविक वजह कृषि की उपेक्षा तथा भारी उद्योगों को (निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में) ज़्यादा महत्त्व देना है। हस्त शिल्प तथा कुटीर उद्योगों का विनाश इसी का परिणाम है।

खाना आदमी की पहली ज़रूरत है, इसके बिना कोई जिंदा नहीं रह सकता। नगरों की आधुनिक सुविधाओं, अस्पतालों, सड़कों, शिक्षा, घर, यहां तक कि कपड़ों के भी बिना रहा जा सकता है पर खाने के बिना नहीं। खाने के अलावा लोग अपनी और भी इच्छाएं या आवश्यकताएं पूरी करना चाहते हैं जैसे–जूते और कपड़े, घर और घरेलू सामान, स्वास्थ्य का रख–रखाव या चिकित्सा–सम्बन्धी देख–भाल, शिक्षा या ज्ञान–प्राप्ति का साधन, संचार और परिवहन के साधन। और भी बहुत–सी सुविधाएं या साधन, जो कि सभ्य नागरिक जीवन के लिए जरूरी समझे जाते हैं, जैसे घड़ी आदि। आम आदमी को इन ज़रूरतों को पूरा करने के लिए शायद ही कोई चीज सहज रूप में मिलती हो।

किसी व्यक्ति या समाज का स्तर तभी ऊंचा उठ सकता है, जब इन ज़रूरतों को पूरा करने वाली कृषि से इतर (उत्पादन से अतिरिक्त) वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों और इन वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन के

साधन तथा यन्त्र तभी बनाये जाते हैं, जब जनता की ओर से इन चीजों तथा सेवाओं की मांग हो और यह तभी सम्भव होता है जब कृषि–कर्मियों की क्रय शक्ति पर्याप्त हो, जो कि भारत में (तथा अन्य विकासशील देशों में भी) जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा है। तभी औद्योगिक या कृषि–इतर वस्तुओं और सेवाओं की मांग भी बढ़ेगी। कृषि उत्पादन में वृद्धि करके ही यह क्रय–शक्ति बढ़ाई जा सकती है। किसानों की ज़रूरत के बाद बचा कृषि–उत्पादन जितना ज़्यादा होगा, वही बिक्री के लिए उपलब्ध होगा और इसकी वजह से ही क्रय–शक्ति बढ़ेगी, परिणामस्वरूप कृषि से इतर उत्पादनों तथा सेवाओं की मांग भी बढ़ेगी।

इसके अलावा विकसित कृषि, जिसकी उत्पादकता मांग की अपेक्षा तेजी से बढ़ती है–न केवल अधिकांश जनसंख्या की क्रय–शक्ति बढ़ाती है, जिससे कारखानों में बने माल को खरीदा जा सकता है, बल्कि कृषि–मजदूर भी खेती छोड़ औद्योगिक एवं क्षेत्रीय रोज़गारों में जा सकेंगे। कृषि–मजदूर दूसरे उद्योगों में न जायें, तो देश का आर्थिक विकास नहीं हो सकता तथा गरीबी नहीं मिटाई जा सकती। इसे इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है, बहुत से उत्पादन, जो प्राथमिक उद्योग या कृषि द्वारा प्राप्त होते हैं, उन्हें उपयोग में लाने लायक बनाने के लिए अन्य उद्योगों की ज़रूरत पड़ती है। उदाहरण के लिए विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन, गृह–निर्माण, विद्युत उत्पादन आदि इसके लिए भी व्यापार, यातायात, भंडारण, बैकिंग तथा बीमा जैसी सुविधाओं की ज़रूरत होती है।'

कृषि उत्पादन में लगातार वृद्धि आर्थिक विकास के लिए सबसे ज़्यादा जरूरी है, क्योंकि इसके बिना खाद्यान्न और कच्चा माल उपलब्ध नहीं करवाया जा सकता, और इसीलिए तब तक खेतिहर मजदूर दूसरे क्षेत्रों में नहीं जा सकते।

सच तो यह है कि जब तक अनाज और खेतों में पैदा होने वाली चीजें किसानों की ज़रूरत से ज़्यादा पैदा नहीं होती, तब तक औद्योगीकरण मुमकिन नहीं है। इतना ही नहीं औद्योगीकरण किस तरह और किस तेजी से होगा, वह भी ज़रूरत से ज़्यादा उत्पन्न कृषि उत्पादों की मात्रा पर निर्भर करता है। ऐसे देश में जहां पूंजी के मुकाबले श्रम सस्ता है यानी आदमी मशीन से सस्ता है, वहां अतिरिक्त उत्पादन तभी हो सकता है, जब हाथ के काम और कुटीर उद्योगों को ज़्यादा महत्त्व दिया जाए। जब कृषि उत्पादन में बढ़ोतरी होगी, तभी कृषि आय बढ़ेगी तथा औद्योगिक उत्पादन की मांग बढ़ेगी और तभी उद्योग स्थापित होंगे। ये उद्योग मात्र अतिरिक्त आमदनी का परिणाम न रहकर अतिरिक्त आमदनी की वजह बन जायेंगे। विभिन्न प्रकार के उद्योगों तथा सेवाओं में बढ़ोतरी की वजह से

अक्सर एक ऐसी हालत आती है, जब श्रम–शक्ति कम हो जाती और पूंजी ज़्यादा हो जाती है, यानी श्रम–शक्ति मशीन की अपेक्षा महंगी हो जाती है। इस स्थिति में अर्थव्यवस्था अपने आप ऐसी बन जाती है कि उद्योगों में यंत्रीकरण का महत्त्व बढ़ जाता है। हस्त शिल्प या श्रम–आधारित उद्योगों से मशीनीकरण यानी पूंजी–प्रमुख उद्योगों की ओर बढ़ने की प्रक्रिया मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि कृषि से बचे मजदूरों को किस अनुपात में पूंजी उपलब्ध हो रही है।

दुनिया के धनी या विकसित देश भी दो तरह के हैं – एक तो वे, जिनके पास प्राकृतिक संसाधन जनसंख्या से कहीं कम हैं। ऐसे देशों में प्रमुख हैं–जापान, बेल्जियम, जर्मनी, नीदरलैंड और ब्रिटेन। ये देश अपने उपनिवेशों से कच्चा माल लेकर इस कमी को पूरा करते हैं। अपने अधीन देशों के कच्चे माल, अनाज और वहां के लोगों के श्रम का शोषण करके ही ये देश हस्त–शिल्प से सीधे मशीनीकरण के स्तर तक पहुंच सके।

दूसरी तरह के देश वे हैं, जहां जनसंख्या कम तथा कच्चा माल और प्राकृतिक संसाधन ज़्यादा हैं। इनमें मुख्य हैं अमेरिका, कनाडा, स्वीडन और आस्ट्रेलिया (इन देशों को दूसरों की ज़मीन पर कब्जा करने की ज़रूरत नहीं है)। इन देशों में कच्चा माल तो पर्याप्त मात्रा में होता ही है, साथ ही इन देशों में अनाज भी इतना पैदा होता है कि ग्रामीण क्षेत्र के लोगों के साथ–साथ उद्योगों में लगे मजदूरों तथा पूंजी–निर्माण में लगे लोगों के लिए भी वह काफी होता है।

प्रथम श्रेणी के उपनिवेशवादी देशों को जो सुविधाएं प्राप्त थीं, वह हमें प्राप्त नहीं हैं। सही या गलत की बात छोड़ भी दें, तो भी अब कोई देश ऐसा नहीं है, जिसे उपनिवेश बनाया जा सके। हमारे समय में हम चाह कर भी किसी देश के संसाधन या उसके लोगों का शोषण नहीं कर सके। सभी विकासशील देश भी उत्पादन तथा खपत की असमानता की खाई पाटने की कोशिश कर रहे हैं और जल्दी ही ऐसी हालत आ जायेगी कि अपने माल की खपत करना या विदेशी औद्योगिक माल खरीदना भी सम्भव नहीं रहेगा।

दूसरी श्रेणी में आने वाले देशों द्वारा अपनाए गए रास्ते के बारे में बात करें तो मालूम पड़ेगा कि भारत जनसंख्या तथा प्राकृतिक संसाधनों के अनुपात के लिहाज से उतना सम्पन्न नहीं है, जितना हममें से ज़्यादातर सोचते हैं। इस लिहाज से हम बहुत गरीब हैं। इसलिए न तो हम भारी उद्योगों के लिए जरूरी पूंजी इकट्ठी कर सकते हैं और न ही भारी उद्योग भारत की विशाल जनसंख्या को पर्याप्त रोज़गार दे सकते हैं। यदि १८५७ में, जब ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत के शासन की बागडोर संभाली थी,

तब ईमानदारी के साथ हमें औद्योगीकरण करने दिया जाता, तो हम यह रास्ता अपना कर विकसित देशों की श्रेणी में आ सकते थे। उस समय पूरे उपमहाद्वीप की कुल जनसंख्या १८ करोड़ से ज़्यादा नहीं थी। मृत्यु दर ऊंची थी। अतः जनसंख्या की वृद्धि दर मुश्किल से आधा प्रतिशत थी। उद्योग शुरू करने के लिए आज के मुकाबले कहीं कम पूंजी की ज़रूरत पड़ती थी, पर आज यह रास्ता हमारे लिए निश्चित रूप से बंद हो चुका है।

अब सवाल यह है कि वर्तमान स्थिति में अपनी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए हमें कौन–सा रास्ता अपनाना चाहिए। इस वक्त हमारे सामने सिर्फ एक रास्ता है और वह है महात्मा गांधी द्वारा सुझाया गया रास्ता अर्थात अपने साधनों के आधार पर देश को नीचे की ओर से धैर्य के साथ धीरे–धीरे मजबूत बनाना।

इसके लिए जरूरी है कि देश में जिन हालात में खेती की जा रही है उन हालात को पूरी तरह से बदलना। यदि हम निश्चित भूमि से प्रति व्यक्ति के आधार पर ज़्यादा अनाज पैदा नहीं कर सके, तो औद्योगिक क्षेत्रों में काम कर रहे किसान भी खेती–बाड़ी की ओर लौटने के लिए मजबूर होंगे, क्योंकि अनाज आदमी की पहली ज़रूरत है। इस हालत में उद्योगों के विकास की दर आज से भी कम हो जायेगी, उत्पादन दर तथा लोगों का जीवन–स्तर, जो कि फिलहाल काफी नीचा है, और भी गिर जायेगा।

उपेक्षापूर्ण नीति

सवाल यह है कि हमारी सरकार पिछले करीब ३५ सालों से यह व्यवहार क्यों कर रही है और क्यों आज भी उसी राह पर चल रही है। जवाब आसान है। वास्तविक भारत गांवों में रहता है पर देश की सत्ता तथा प्रशासनिक बागडोर शहरों में पले बुद्धिजीवियों के हाथों में है। ये लोग न तो गांवों की समस्याओं से परिचित हैं, न ही उसकी ज़रूरतों, कमियों, आवश्यकताओं तथा ग्रामीणों के मनोविज्ञान को समझते हैं। यही वजह है कि ये लोग गांव की समस्याओं का समाधान पहले से बनी धारणाओं के आधार पर करते हैं। अकसर उन अभौतिक घटकों को भुला दिया जाता है, जिन्हें समझ पाना यों तो मुश्किल हो सकता है पर जो गांव के लोगों को जन्मघुट्टी के साथ मिलते हैं। विदेशी खेलों की किताबें पढ़कर या उस वातावरण से प्रभावित होकर, जिसमें वे पले थे, हमारे शहरी नेताओं ने अधकचरी योजनाएं प्रारम्भ की हैं। सहकारी खेती, राज्य द्वारा अनाज का व्यापार, फसल बीमा तथा खेतिहर मजदूरों के लिए न्यूनतम मजूरी,

ऐसी ही योजनाएं हैं, जो असफल रही हैं और इनकी सफलता की कोई सम्भावना भी नहीं हैं।

खेतों के आकार की ही बात की जाय, तो स्पष्ट हो जायेगा कि हमारे नेता तथा प्रशासक सहकारी खेती की असफलता के बाद बड़े आकार के खेतों को आदर्श मानते हैं। वे भूल जाते हैं या शायद जानते ही नहीं कि हमारे देश में कृषि योग्य भूमि सीमित है। अतः हमारा उद्देश्य खेत पर काम करने वाले प्रति व्यक्ति के लिहाज से उत्पादन बढ़ाने के बजाय प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाना होना चाहिए। यही उद्देश्य रखकर पूरे देश में उत्पादन बढ़ाकर गरीबी व पूंजी की कमी को दूर किया जा सकता है। यद्यपि सिद्धांत रूप में प्रति एकड़ उत्पादन का चक के आकार से कोई सम्बंध नहीं है। बड़े चक में प्रति एकड़ उतना ही उत्पादन होना चाहिए, जितना छोटे चक में, पर व्यवहार में यह सही नहीं रह जाता। ज्यों–ज्यों खेत का आकार बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों प्रति एकड़ मानव श्रम तथा निरीक्षण भी कम होता जाता है।

आज देश के हर कोने में यंत्रीकृत खेती देखी जा सकती है। यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही शुरू हुई। अंग्रेजों के जमाने में गिने–चुने फार्म थे, जहां मशीनों से खेती होती थी। ज़मीन के ऐसे मालिकों को, जो ज़मीन कम होने की वजह से खुद दूसरा व्यवसाय करते थे या जिनकी बसर ज़मीन के किराये से हो जाती थी, उन्होंने अपनी ज़मीन काश्तकारी करने के लिए दूसरे लोगों को पट्टेदारी, उप–पट्टेदारी,भागीदारी, सीर या खुदकाश्त के तहत दे रखी थी, पर अब इन्होंने खेती करने वालों को बेदखल कर, उस पर अपना अधिकार कर लिया है। तीसरी पंचवर्षीय योजनाओं को देखने से स्पष्ट हो जायेगा कि ऐसे लोगों को ३० से ६० एकड़ तक ज़मीन पर खुदकाश्तकारी करने का अधिकार दे दिया गया है, और इस प्रकार प्राप्त भूमि पर खेती करने के लिए बड़े किसानों को ट्रैक्टर तथा खेती सम्बंधी अन्य बड़ी मशीनें खरीदने के लिए आसान शर्तों पर बड़े–बड़े कर्ज दिये गये। इस प्रकार सरकार की नीतियों की वजह से ही पूंजी प्रधान यंत्रीकृत खेती महत्त्वपूर्ण हो सकी। यह इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जायेगा कि देश में १९४५ में मात्र १३८३ ट्रैक्टर थे (जिनमें से सिर्फ महाराष्ट्र में ही ७६१ थे)। यह संख्या बढ़कर १९५१ में ८,६३५, सन् १९६१ में ३१,०१६, सन् १९७१ में १,४८,३०० तथा १९७७ में २,४४,५९८ हो गयी।

इसे ही दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो कृषकों तथा खेतिहर मजदूरों का १९५१ का ५७:१३ का अनुपात गिरकर १९८१ में ४०:३० का हो गया और सीमांत किसानों, यानी जिनके पास २.५ एकड़ या चार बीघा ज़मीन है, का प्रतिशत १९६१ के ३९ से बढ़कर १९८१ में करीब ५५ हो गया।

दूसरी ओर १० एकड़ से ज़्यादा ज़मीन वाले किसानों की संख्या, जो १९६१–६२ में २३ लाख थी, १९७० ७१ में बढ़कर २८ लाख हो गयी।

१९६०–६१ में इन किसानों के पास औसतन १७ हेक्टेयर ज़मीन थी, जबकि १९७०–७१ में यह औसत बढ़कर १८ हेक्टेयर हो गया। १९६१–६२ में बड़े खेतों की कुल ज़मीन ३८६ लाख हेक्टेयर या कुल कृषि योग्य भूमि का २८.९९ प्रतिशत थी। १९७०–७१ में यह बढ़ कर ५ लाख हेक्टेयर या कुल कृषि भूमि का ३०.८ प्रतिशत हो गई। १९८१ के बड़े किसानों सम्बंधी आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इस तथ्य के बावजूद हमारे पास कृषि योग्य भूमि की कमी है। प्रकृति ने हमें पर्याप्त मात्रा में वर्षा और धूप प्रदान की है, उसके बावजूद विदेशों से हमें काफी मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ता है। इनकी कपटपूर्ण नीतियां भी इसके लिए काफी हद तक जिम्मेदार हैं। हमारे राजनेताओं ने कृषि को उतना महत्त्व नहीं दिया, जितना दिया जाना चाहिए था।

कृषि की आवश्यकताओं और समस्याओं को सुलझाने के लिए देश के नेता कितनी प्राथमिकता दे रहे हैं, यह इस एक उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि सरकार राजस्थान में नहर–निर्माण या बिहार में नलकूप लगाने के बजाए एशियाई खेलों पर १,००० करोड़ रुपया खर्च कर रही है। सम्भवतः किसी अन्य देश की सरकार इन परिस्थितियों में धन की बर्बादी का ऐसा अपराधपूर्ण कदम न उठाती।

जहां तक हमारी औद्योगिक नीति का सवाल है, उसके बारे में यही कहा जा सकता है कि हमारे द्वारा अपनायी नीति से ज़्यादा अव्यावहारिक नीति हो ही नहीं सकती। भारत शहरों में नहीं, गांवों में निवास करता है। गांव निर्धन हैं, क्योंकि वहां की अधिकांश जनसंख्या या तो बेरोज़गार है या अर्द्ध–बेरोज़गार है। इतनी विशाल श्रम–शक्ति और उसके मुकाबले ज़मीन की कमी और अन्य प्राकृतिक साधनों के होते हुए कम पूंजी से शुरू किये गये कुटीर उद्योग लगाकर ही लोगों को उत्पादक रोज़गार दिया जा सकता है। इस प्रकार के उद्योग ही हमारी अन्य समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। बड़ी पूंजी लगाकर शुरू होने वाले पाश्चात्य अर्थनीति पर आधारित वे उद्योग नहीं, जिन्हें नेहरू ने अपनाया था। पाश्चात्य यंत्रीकृत अर्थ–व्यवस्था केवल बेरोज़गारी में बढ़ोतरी करेगी और धन कुछ हाथों में सिमट जायेगा। इस प्रकार पूंजीवाद अपनी सारी बुराइयों के साथ फैल जायेगा; और वास्तव में यह सब कुछ हो भी चुका है।

सुधार–सिद्धान्त

इस विषय में स्पष्ट सिद्धांत, जिसे अपनाने की आवश्यकता है, यह है कि ऐसी किसी भी वस्तु के उत्पादन हेतु मशीनी उद्योगों को बड़े स्तर पर स्थापित करने की इजाजत न दी जाए, जिसका उत्पादन लघु या कुटीर उद्योगों में मानव–श्रम शक्ति द्वारा किया जा सकता है।

उपरोक्त प्रतिपादन के पक्ष में आंकड़े प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि प्रति श्रमिक के लिहाज से कुल उत्पादन का उद्योग के आकार तथा तकनीक से सीधा सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए उद्योग में लगी पूंजी तथा उद्योग के आकार अथवा तकनीकी सुधार के साथ–साथ प्रति श्रमिक उत्पादन बढ़ता है। कुटीर उद्योगों में प्रति श्रमिक उत्पादन लघु उद्योगों में प्रति श्रमिक उत्पादन के मुकाबले कम होता है और इसी प्रकार बड़े उद्योगों अथवा ऐसे उद्योगों के मुकाबले, जिनमें पूंजी निवेश को प्रमुखता दी जाती है, लघु उद्योगों में प्रति श्रमिक उत्पादन कम होता है, जबकि मूल्य तथा स्थायी पूंजी निवेश के आधार पर नियुक्त किये गये श्रमिकों का सम्बन्ध नकारात्मक होता है, अर्थात ऐसे उद्योगों में, जहां प्रति श्रमिक पूंजी–निवेश बढ़ता है तथा तकनीकी सुधार होता है, वहां पर उत्पादन भी कम होता है और कम श्रमिकों की नियुक्ति होती है।

यदि प्रति श्रमिक उत्पादकता, स्थायी पूंजी निवेश के आधार पर उत्पादकता तथा पूंजी निवेश की प्रति इकाई के आधार पर श्रमिक–नियुक्ति की बात की जाये, तो लगता है कि इनमें विरोधाभास है किंतु हमारे देश की जो स्थिति है, अर्थात् पूंजी की कमी तथा श्रम की बहुतायत, उसे देखते हुए इन स्थितियों में कोई विरोधाभास नहीं है, क्योंकि जब विभिन्न तकनीकों या उद्योगों के चुनाव की बात आती है, तो इसी तथ्य के आधार पर यह चयन हमारे लिए बहुत आसान हो जाता है। पूंजी निवेश की प्रमुखता देकर स्थापित किये गये उद्योगों में लगे श्रमिकों को ज़्यादा लाभ हो सकता है, क्योंकि उन्हें ज़्यादा मजदूरी मिलती है। किंतु देश के लिहाज से श्रमिक–बहुल उद्योग ही लाभकारी हैं। एक ऐसे देश में जहां पूंजी की कमी हो, अत्यधिक गरीबी हो, और मजदूरों की बहुतायत हो, वहां कुटीर उद्योग ही लाभकारी सिद्ध होंगे। पश्चिमी देशों में सरकारों तथा अर्थशास्त्रियों की यह कोशिश होती है कि प्रति व्यक्ति उत्पादकता बढ़े, जबकि हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि पूंजी में बढ़ोतरी हो, क्योंकि देश में, पूंजी की कमी है, पश्चिमी देशों की तरह श्रमिकों की नहीं।

स्पष्ट है कि अधिक पूंजी निवेश वाले उद्योग एक ओर तो बहुसंख्यक

श्रमिकों को बेरोज़गार रखते हैं या बेरोज़गार बनाते हैं, दूसरी ओर इनकी वजह से पूंजी कुछ ही हाथों में इकट्ठी हो जाती है, जो पूंजी मजदूरी या आय के रूप में बहुतायत लोगों अथवा मजदूरों के पास जानी चाहिए, वही पूंजी मिल–मालिकों के मुनाफे के रूप में या गिने–चुने मजदूरों की ऊंची मजदूरी के रूप में कुछ हाथों में एकत्रित हो जाती है। इस प्रकार विभिन्न लोगों की आय की विषमता की खाई बढ़ती जाती है। यही वजह है कि राजनैतिक स्वतंत्रता मिलने के ३५ साल बाद भी आय में विषमता न केवल बरकरार है बल्कि लगातार बढ़ती ही जा रही है। इसी तरह कारखानों की संख्या पांच गुनी बढ़ जाने के बावजूद लोगों का जीवन–स्तर तथा उपयोगी सामग्री की खपत बढ़ी नहीं बल्कि गिरी है। अतः कुछ लोगों के लिए ऊंची आय अथवा पूंजी निवेश को प्रमुखता देने की राह तथा सभी उत्पादकों की आय में थोड़ी–बहुत बढ़ोतरी की राह में से यदि एक राह चुननी हो, तो निश्चय ही हमें दूसरी राह चुननी होगी, जो कि जापानी पद्धति है।

निष्कर्ष यह है कि सबसे पहले तो देश के नेताओं को यह समझना चाहिए कि गरीबी से बचकर समृद्धि की ओर बढ़ने का एकमात्र मार्ग गांव तथा खेतों से होकर गुजरता है, शहर तथा उद्योग नगरियों से होकर नहीं। विडम्बना यह है कि दोनों प्रमुख आर्थिक विचारधाराओं के लोग यानी पूंजीवादी तथा साम्यवादी भी हमें यही सलाह देंगे। बहुत से समाजवादी कहते रहे हैं कि सशक्त औद्योगिक आधार के बिना राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना असम्भव है, जबकि पश्चिमी अर्थशास्त्री अक्सर कहते रहे हैं कि विकासशील औद्योगिक क्षेत्र ही बाहरी पूंजी आमंत्रित कर सकता है।

जोनाथन पावर और अन्ना होल्सरीन ने अपनी पुस्तक 'वर्ल्ड आफ हंगर' में पृष्ठ ८९ पर लिखा है कि तृतीय विश्व के नव स्वतंत्र देशों में हमेशा ही अनाज का अभाव बना रहता है, ग्रामीण क्षेत्रों का मनोबल गिरा रहता है, शहरी क्षेत्रों में झोंपड़–पट्टियों में रहने वालों की संख्या तथा आय में विषमता तेजी से बढ़ रही है और यह इसी गलत उद्योग नीति का परिणाम है। पाठकों को याद दिलाने की ज़रूरत नहीं कि भारत भी तीसरे विश्व के देशों में आता है।

अतः हमें ग्रामीण क्षेत्रों को प्राथमिकता तथा कृषि को केन्द्र बनाकर कुटीर उद्योग तथा कृषि की ओर वापिस लौटना होगा। हमारे देश की स्थिति में यह विशेष रूप से सत्य है कि हम अपने देश की जनता का जीवन स्तर तब तक नहीं उठा सकते, जब तक कि कृषि उत्पादन में बढ़ोतरी न हो, भले ही औद्योगिक उत्पादन में तेजी से वृद्धि हो।

दूसरे, यदि इस मामले में हम सचमुच कुछ करना चाहते हैं, तो हमें

कानून बनाकर बड़े तथा मझोले उद्योगों में उन वस्तुओं के उत्पादन पर रोक लगानी होगी, जिन्हें लघु उद्योगों में बनाया जा सकता है। इसी प्रकार लघु उद्योगों में उन वस्तुओं के उत्पादन पर रोक लगायी जानी चाहिए, जिनका उत्पादन कुटीर उद्योगों में किया जा सकता है।

इसी प्रकार विद्यमान ऐसी मिलों तथा कारखानों को, जिनमें कपड़ा तथा अन्य इस तरह की वस्तुएं बनती हैं, जिनका उत्पादन लघु तथा कुटीर उद्योगों में किया जा सकता है, उन्हें देश में अपना उत्पादन बेचने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। इन वस्तुओं का सिर्फ निर्यात होना चाहिए। जरूरी नहीं कि इस नियम का पालन एकदम किया जाए, इसे कई चरणों में शुरू किया जा सकता है। सरकार इस प्रकार के उद्योगों को हर सम्भव सहयोग दे, ताकि वे अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में अन्य देशों का मुकाबला कर सकें। इसके बावजूद यदि वे मुकाबला नहीं कर सकते, तो उन्हें बन्द कर दिया जाना चाहिए, पर घरेलू बाज़ार हर हालत में लघु कुटीर उद्योगों के लिए सुरक्षित रहने चाहिए। स्पष्ट है कि जिस प्रकार लघु उद्योगों को मझोले तथा बड़े उद्योगों से सुरक्षा प्रदान की जाए, उसी प्रकार कुटीर उद्योगों को अन्य सभी से सुरक्षित रखा जाना चाहिए।

इसके अलावा बेरोज़गारी की समस्या से निपटने का कोई रास्ता नहीं है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि देश में बेरोज़गारी मुख्य रूप से आधुनिक तकनीक की देन है। अतः इसके समाधान के लिए उत्पादन तकनीक तथा उसके तरीकों में आमूल परिवर्तन करना होगा। इसके अलावा हमें यह भी याद रखना चाहिए कि जब हम देश में व्याप्त बेरोज़गारी की बात करते हैं, तो हम कुछ हजार या कुछ लाख लोगों की बात नहीं कर रहे होते बल्कि उन करोड़ों लोगों की बात कर रहे होते हैं, जो बेरोज़गार अथवा अर्द्ध–बेरोज़गार हैं। हमारी समस्या इतनी बड़ी है कि छोटे–मोटे सुधारों से हालत नहीं बदलेगी। इसके लिए जरूरी है कि हम इसे मूलभूत राजनैतिक तथा आर्थिक दर्शन बनाएं।

भारत आवश्यक परिवर्तन कर इस समस्या का समाधान कर सकेगा या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि इसके लिए राजनेतागण आवश्यक राजनैतिक साहस जुटा पाते हैं या नहीं।

चौधरी चरण सिंह द्वारा रचित कृतियां

शिष्टाचार, १९४१. (२०१ पृष्ट)

हाउ टू एबोलिश जमींदारीः ह्विच एल्टरनेटिव सिस्टम टू एडाप्ट। (ज़मींदारी उन्मूलन कैसे करें: किस वैकल्पिक प्रणाली को अपनाएं) १९४७. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, संयुक्त प्रांत।

एबोलिशन ऑफ ज़मींदारीः टू अल्टरनेटिव्ज। (जमींदारी उन्मूलनः दो विकल्प) १९४७. किताबिस्तान, इलाहाबाद. (२६३ पृष्ट)

एबोलिशन ऑफ जमींदारी इन यू० पी०: क्रिटिक अंसरड। (उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलनः आलोचकों को जवाब) १९४९. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, संयुक्त प्रांत।

व्हितहर कोआपरेटिव फार्मिंग? (सामूहिक खेती की दिशा?) १९५६. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, उत्तर प्रदेश।

एग्रेरियन रिवोल्यूशन इन उत्तर प्रदेश। (उत्तर प्रदेश में कृषि क्रांति) १९५७. प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, गवर्नमेंट ऑफ उत्तर प्रदेश १९५८ लखनऊ, सुपरिन्टेन्डेन्ट, प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, उत्तर प्रदेश। (६६ पृष्ट)

जॉइंट फार्मिंग एक्स–रैडः द प्रॉब्लम एंड इट्स सोल्यूशन। (संयुक्त खेतीः समस्या और समाधान) १९५९. किताबिस्तान, इलाहाबाद. (३२२ पृष्ट)

इण्डियाज पॉवर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन। (भारत की गरीबी और उसका समाधान) १९६४. एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई। (५२७ पृष्ट)

इण्डियन इकोनॉमिक पॉलिसीः दि गांधियन ब्लूप्रिंट। (भारत की अर्थनीतिः एक गांधीवादी रूपरेखा) १९७८. विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (१२७ पृष्ट)

इकोनॉमिक नाइटमेयर ऑफ इण्डियाः इट्स कॉज़ एण्ड क्योर। (भारत की भयावह आर्थिक स्तिथिः कारन एवं निदान) १९८१. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (५९८ पृष्ट)

लैण्ड रिफॉर्म्स इन यू० पी० एण्ड दि कुलक्स। (उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार एवं कुलक वर्ग) १९८६. विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (२२० पृष्ट)

'विशिष्ट रचनाएंः चौधरी चरण सिंह' भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री चरण सिंह द्वारा १९३३ और १९८५ के बीच लिखित २२ महत्वपूर्ण लेखों और भाषणों का संग्रह है। इस पुस्तक के अध्ययन से आज का पाठक वर्ग जान सकेगा कि मौजूदा समय की चुनौतियां न तो नई हैं और न ही समाधानहीन। इनसे निपटने के लिए एक मन–सोच अथवा जिगरा चाहिए, जो निश्चय ही धरा–पुत्र चरण सिंह में था। उनका लेखन उस प्रकाशस्तंभ की तरह है जो समुद्र में भटके हुए जहाजों को किनारे तक आने का रास्ता दिखाता है। उनके लेखन के आलोक में हम मौजूदा चुनौतियों को सही परिप्रेक्ष्य में न केवल समझ सकते हैं अपितु उनका समाधान भी पा सकते हैं। इन लेखों में उनकी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि के दर्शन होते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इन लेखों को सामाजिक लेखन, आर्थिक लेखन, राजनीतिक लेखन एवं उपसंहार – चार खण्डों में विभाजित किया गया है।

चौधरी चरण सिंह की अध्यात्मिक अंतश्चेतना और राजनीतिक मेधा महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं महात्मा गांधी से अनुप्रेरित रही, तो सरदार पटेल उनके नायक रहे। इन विभूतियों पर चौधरी साहब ने अपने विचार लेखों में प्रस्तुत किये हैं। जाति–प्रथा, आरक्षण, जनसंख्या नियंत्रण, राष्ट्रभाषा जैसे सामाजिक मुद्दों के साथ ही शिष्टाचार जैसे विरल विषय पर भी दो लेख **खण्ड एकः सामाजिक लेखन** में दिये गये हैं।

चौधरी साहब भारत की उन्नति का मूल आधार कृषि, हथकरघा और ग्रामीण भारत को मानते थे। उनकी दृष्टि में ग्रामीण भारत ही वह नियामक तत्व रहा जिसे प्रमुखता देकर देश को आर्थिक रूप से सशक्त बनाया जा सकता है, साथ ही बेरोजगारी जैसी विकट समस्या को भी दूर किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश में भूमि सम्बंधी सुधारों और जमींदारी समाप्त करने को लेकर चौधरी चरण सिंह पर धनी किसानों के पक्षधर होने के आरोप विरोधियों ने लगाये। उनका उन्होंने बेहद तार्किक ढंग से उत्तर दिया है। गांव–किसान और खेती के प्रति उपेक्षापूर्ण नीतियां एवं काले धन की समस्या जैसे तथा उपरोक्त विषयों पर केन्द्रित लेख **खण्ड दोः आर्थिक लेखन** के अन्तर्गत दिये गये हैं।

खण्ड तीनः राजनीतिक लेखन के अन्तर्गत भारत की लम्बी गुलामी के मूल कारणों का विश्लेषण, गांधी–चिंतन, देश में पहली गैर–कांग्रेसी जनता पार्टी की सरकार की आधारभूत नीतियां, देश विख्यात माया त्यागी कांड का समाजशास्त्रीय विश्लेषण, भाषा आधारित राज्यों के खतरे आदि मुद्दों के अलावा उनके नायक सरदार पटेल की स्मृति पर आधारित लेख हैं। इसी खण्ड में चौधरी साहब के ऐतिहासिक महत्व के दो भाषण भी संकलित हैं, जो लोकशाही पर संकट और राष्ट्रीय विघटन के खतरों के प्रति सचेत करते हैं।

अंतिम **खण्ड चारः उपसंहार** है, जिसमें चौधरी साहब ने राजनीति, समाज नीति और देश से सम्बंधित अधिकतर मुद्दों पर संक्षेप में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

Charan Singh Archives
www.charansingh.org

मूल्य ₹६६